पठनीय

पुस्तक	-	*अध्यापक*
लेखक	-	सिल्विया एश्टन वॉरनर
अनुवादक	-	पूर्वा याज्ञिक कुशवाहा
प्रकाशक	-	ग्रंथ शिल्पी (इंडिया) प्राइवेट लिमिटेड दिल्ली
मूल्य	-	रु 325.00

रंजना*

अंग्रेज़ी मूल में यह किताब कोई तैंतीस साल पहले छपी थी। लेखिका के अपने देश न्यूज़ीलैंड में भले ही इस पुस्तक का स्वागत न हुआ हो, किंतु अमेरिका और इंग्लैंड में उसका प्रभाव दूर-दूर तक फैला। पढ़ना सिखाने की रूढ़ विधियों को उखाड़ने में मदद देने के अलावा सिल्विया एश्टन वॉरनर की छोटे बच्चों से संवाद स्थापित करने की क्षमता हज़ारों शिक्षकों के लिए प्रेरणा का स्रोत बनी। बच्चे का विश्वास जीते बिना कोई शिक्षा नहीं दी जा सकती, यह सिद्धांत और बच्चे का विश्वास जीतने का तरीका इस किताब के दो सबसे बड़े आकर्षण हैं। इन आकर्षणों की टोह आज हमें अपने संदर्भ में भले एक स्वप्नयात्रा लगे, कुछ हाथों में वह अवश्य कल का यथार्थ बनेगी।

सिल्विया एश्टन वॉरनर ने न्यूज़ीलैंड के सुदूर देहाती इलाके के एक माओरी स्कूल में काफ़ी समय तक अध्यापन कार्य किया। इसी दौर में उन्होंने 'सहज शिक्षण' के क्रांतिकारी सिद्धांत का विकास किया। यह 'सहज शिक्षण' आज बाल-केंद्रित शिक्षण के नाम से जाना जाता है। उनकी 'अध्यापक' नाम की यह प्रसिद्ध पुस्तक 1963 में पहली बार अमेरिका में प्रकाशित हुई थी। इसी एक पुस्तक ने उनको बीसवीं सदी के महान शिक्षाशास्त्रियों की पांत में लाकर खड़ा कर दिया।

यह पुस्तक न्यूज़ीलैंड के माओरी बच्चों की शिक्षा को समर्पित एक अध्यापिका के जीवनानुभवों का निचोड़ और बालकेंद्रित शिक्षण पद्धति का सर्जनात्मक दस्तावेज़ है। इसे ही लेखिका ने 'सहज शिक्षण' कहा है। इस शिक्षण विधि में बच्चों को केंद्र में रखकर उनकी सामाजिक-आर्थिक पृष्ठभूमि के आधार पर शिक्षा पद्धति का तानाबाना तैयार किया गया है। बाल-केंद्रित शिक्षण पद्धति की वकालत करने वाली यह पुस्तक स्कूल की व्यवस्था या उसकी प्रणाली की आलोचना नहीं करती है, बल्कि इनको चुनौती के रूप में स्वीकार कर, इसी प्रणाली और व्यवस्था के बीच खड़े होकर सीखने वालों का चरित्र,

* *विशेषज्ञ* (करिकुलम एंड इंगेजमेंट), अजीम प्रेमजी फ़ाउंडेशन I-1861, II फ़्लोर, चितरंजन पार्क, नयी दिल्ली-110019

व्यवहार और काम का तरीका सब कुछ बदल देने के संकल्प का आदर्श प्रस्तुत करती है।

बच्चों को केंद्र में रखकर शिक्षा देना बहुत कठिन काम है। अगर अध्यापक में कल्पना, संवेदनशीलता और आनंद पैदा करने की क्षमता नहीं है तो वह अपनी कक्षा को जीवंत नहीं बना सकता है और आनंदरहित शिक्षण बच्चों के लिए दंड है और अध्यापक की असफलता का द्योतक भी।

इस पुस्तक की प्रस्तावना में सुविख्यात शिक्षाविद् प्रो. कृष्ण कुमार लिखते हैं –

बच्चों की शिक्षा के बारे में बीसवीं सदी में लिखी गई पुस्तकों में सिल्विया एश्टन वॉरनर की इस पुस्तक की हैसियत कुछ अलग ही है। हिंदी में इसका प्रकाशन निश्चय ही एक घटना है। यद्यपि यह कहना भी सही होगा कि इस घटना के पहचाने जाने लायक परिस्थितियाँ हिंदी क्षेत्र क्या, समूचे देश में नहीं हैं। हमारे समाज में शिक्षा की चट्टानी जड़ता इतनी गहरे तक गई है कि रचनात्मक विचारों की कद्र और उनके संवर्धन की संभावना अक्सर चार लोगों का स्वप्न साबित होती है। फिर भी यह याद रखना ज़रूरी है कि बीज-घटनाएँ छोटे-छोटे वैचारिक समुदायों में ही प्रस्फुटित होती हैं। रचनात्मक विचार का जन्म और विकास एक रहस्य से कम नहीं होता – सिल्विया एश्टन वॉरनर के इस कथन की सच्चाई का प्रमाण पुस्तक के कई पाठक अंतिम पन्ने तक पहुँचने के काफ़ी पहले महसूस करेंगे।

कहने को यह किताब एक शैक्षणिक प्रयोग की कहानी है और इसी रूप में पश्चिम के देशों में प्रचारित रही है। पाठक स्वयं देखेंगे कि यह किताब कहानी के रूप में नहीं लिखी गई है और रिपोर्ट या दस्तावेज़ तो एकदम ही नहीं है। सिर्फ़ एक विचार के इर्दगिर्द लेखिका ने अपनी कक्षा के पाठ्यक्रम को दुनिया से अलग बुनावट किस तरह दी, इस प्रश्न का उत्तर कहीं छोटी-छोटी टिप्पणियों तो कहीं डायरी और कहीं संवादों की शक्ल में यह पुस्तक देती है। सिल्विया जैसी संवेदनशील शिक्षक की शैली – काम करने की भी और लिखने की भी – शायद कई पाठकों को चौंकाएगी, विशेषकर उन पाठकों को जो किसी न किसी रूप में शिक्षा व्यवस्था से जुड़े हैं।

हमारे समाज में बच्चों का शिक्षक बौद्धिक रूप से परतंत्र होकर काम करता है। पाठ्यक्रम और पाठ्य-सामग्री के निर्धारण में, स्कूल के लिए सामग्री की खरीद में, यहाँ तक कि स्कूल का दैनिक कार्यक्रम तय करने में हमारे देश का अध्यापक पराए निर्णयों का मोहताज रहता है। निर्णय प्रत्यक्षत: अध्यापक के सिर पर नियुक्त अधिकारियों द्वारा लिए जाते हैं, किंतु वास्तव में ये निर्णय एक प्राचीन लिपि की तरह शिक्षण व्यवस्था की जड़ और इसलिए अपरिवर्तनीय रीति-नीति में दर्ज रहते हैं। बहुत मामूली संशोधनों के साथ यह निर्णय साल-दर-साल, दशक-दर-दशक एक क्रूर नियतिचक्र की भाँति करोड़ों बच्चों और उनकी दीक्षा के लिए तैनात शिक्षकों के जीवन को चलाते चले जाते हैं।

इस पृष्ठभूमि में छोटे बच्चों को पढ़ना सिखाने जैसा बुनियादी शैक्षणिक काम भी एक रसहीन कर्मकांड बन जाता है। सिल्विया एश्टन वॉरनर के शिक्षणशास्त्र का केंद्र दरअसल पढ़ना सिखाना ही था। न्यूज़ीलैंड की माओरी जनजाति के बच्चों को

पढ़ना सिखाने का रोमांचक अनुभव पढ़ते-पढ़ते हम अचानक इस सत्य से टकराते हैं कि पढ़ना-लिखना यानी साक्षरता कितनी सहज और आत्मीय हो सकती है। वर्णमाला सिखाने से शुरू होने वाली लंबी पारंपरिक विधियों में समाई बच्चे के व्यक्तित्व की अवहेलना हमारे सामने मूर्तिमान हो उठती है और प्रशिक्षण महाविद्यालयों का वितंडावाद अपने आप उजागर हो जाता है। यह दु:खद सच्चाई भी इस पुस्तक को पढ़कर हमारे लिए स्पष्ट हो जाती है कि अधूरी और विकृत शिक्षा मनुष्य और उसकी वर्तमान सभ्यता के लिए कितना बड़ा अभिशाप है। सिल्विया एश्टन वॉरनर के अनुसार विध्वंस और रचना मनुष्य की ऊर्जा की अभिव्यक्ति के दो रास्ते हैं। जो ऊर्जा रचना का रास्ता नहीं प्राप्त कर पाती, वह विध्वंस के रास्ते पर आगे बढ़ती है। रचना और विध्वंस के बीच यह चुनाव बचपन के वर्षों में अपने निर्णायक दौर से गुज़रता है। पढ़ना सिखाने की एक बेहद सहज और ऊर्जावान विधि सिल्विया के रचनामुखी पाठ्यक्रम की धुरी थी।

यहाँ इस पुस्तक के पन्नों से कुछ अंश दिए जा रहे हैं –

सहज पठन का सिद्धांत कोई आज की नयी बात नहीं है। प्राचीन मिस्र की चित्रलिपि भी तो अपने आप में एक शब्द वाले वाक्य ही थे। और हेलेन केलर का पहला शब्द 'पानी' उसके लिए एक शब्दावली पुस्तक थी। सहज पठन का सूत्र तोल्स्तोय को भी अपनी ग्रामशाला में मिला था और आज यूनेस्को के क्षेत्र में हर जगह पढ़ाने के लिए इसका ही उपयोग होता है। क्योंकि आखिर यही अकेला विवेकपूर्ण रास्ता जो है अविकसित लोगों को लिखित भाषा से परिचित कराने का। किसी अकाल पीड़ित क्षेत्र में क्या कोई भी शिक्षक भला 'फसल' 'माटी' 'भूख' और 'खाद' जैसे शब्दों के बिना पढ़ाई की शुरुआत करने की बात सोच सकता है?

ऐसा भी नहीं है कि सहज (ऑरगेनिक) पठन केवल निरक्षर या अविकसित नस्लों के लिए ही हो। सच तो यह है कि इसके बिना हम किसी भी बच्चे को एक संस्कृति से दूसरी संस्कृति की ओर ले ही नहीं जा सकते।

भला कोई इन नन्हे-मुन्नों को किसी पूर्वनिर्धारित पुस्तक से कैसे शुरू करवा सकता है... चाहे वह किताब कितनी भी अच्छी क्यों न हो? और कोई भी किताब, तुलना में, उस किताब से क्या अच्छी होगी भला जो बच्चों ने खुद ही रची हो? हाँ, यह मैं ज़रूर कहूँगी कि पढ़ने की इतनी भर सामग्री नाकाफ़ी है। पर हम बात केवल प्रारंभ की कर रहे हैं। सेतु तो यही है। यही तो वह सेतु है जो जाने-पहचाने को अनजाने से जोड़ता है, एक सहज प्राकृत संस्कृति को एक नयी संस्कृति से जोड़ता है, यही बात और सार्वभौमिक रूप में कहें तो कह सकते हैं कि मानव के भीतर की दुनिया को बाहर की दुनिया से जोड़ता है।

सुना है, दूसरी शिशुशालाओं में पाँच साल के बच्चों का प्रारंभिक शब्दावली से परिचय करवाने के लिए सचित्र सामग्री काम में लेते हैं। पर वे सारे चित्र भी तो वयस्क शिक्षाशास्त्रियों द्वारा ही चुने हुए होते हैं। चित्रों का उपयोग मैं भी करती हूँ पर ये सारे के सारे चित्र बच्चों की अंत:दृष्टि से उपजे होते हैं। इन चित्रों के शीर्षक भी वे खुद होते हैं। यह सच है कि वयस्कों द्वारा बाहरी दुनिया से चुने हुए चित्र भी अर्थपूर्ण हो

सकते हैं और बच्चों को आनंद भी देते हैं, पर जो उनके मानस चित्र होते हैं, उनके ही शीर्षकों में शक्ति होती है वे ही प्रकाश से भरे होते हैं। बाहरी दृष्टि के बनाए चित्र रोचक भले ही हों पर अंत:दृष्टि के चित्र ही सहज होते हैं। उन्हीं चित्रों के शीर्षकों को मैं मूल शब्दावली कहती हूँ।

एक पाँच साल के बच्चे का मस्तिष्क मुझे द्विमुखी ज्वालामुखी-सा लगता है – ध्वंसात्मक भी, रचनात्मक भी। जिस सीमा तक हम किसी बच्चे की रचनात्मक सारणी को पुष्ट कर पाते हैं, ठीक उसी सीमा तक हम उसकी ध्वंसात्मक सारणी को क्षीण करते चलते हैं। मुझे तो यह लगता है कि मूल शब्दावली में आने वाले शब्द, जो कि गतिशील जीवन के ही शीर्षक हैं, वे रचनात्मक सारणी से ही रिसकर बाहर आते हैं और तब वे ध्वंसात्मक सारणी को सुखा डालते हैं। यही कारण है कि मैं इसे रचनात्मक पठन के रूप में देखती हूँ और उसकी गिनती भी कलाओं में करती हूँ।

पहले शब्दों का बच्चों के लिए विशेष अर्थ होना ही चाहिए।

पहले शब्दों का बच्चों के लिए गहरा अर्थ होना चाहिए। बल्कि उन्हें तो उसके मानस का ही हिस्सा होना चाहिए।

पढ़ने के लिए प्यार पर कितना कुछ निर्भर करता है। किताब थामते ही, उठा लेने की स्वाभाविक ललक यही तो चाहिए। इस प्रारंभिक विकास काल में ही किताब की ओर हाथ बढ़ाकर एक सहज प्रतिक्रिया बन जानी चाहिए। और इस स्थिति तक पहुँचने के लिए सुखद और कोमल शब्द नहीं चलेंगे। हमें ऐसे शब्दों की ज़रूरत होगी जो सहज हों। जो बच्चे के गतिशील जीवन से ही जन्मे हों।

ज़ाहिर है कि ये वे ही शब्द हो सकते हैं जो किसी बच्चे के मानस का हिस्सा बन चुके हों।

प्रस्तुत पुस्तक में सीखने-सिखाने के सारे अनुभव, कार्य, नवाचार और प्रयोग सर्जनात्मक रूप में प्रस्तुत किए गए हैं। इन्हें पढ़ते समय पाठक ऐसा महसूस करेगा कि यह शिक्षा की पुस्तक न होकर बच्चों और जनजातियों के बीच आनंद की अनेक घटनाओं की कहानी है।

बच्चों के लिए सीखने का अर्थ खेलना है, स्वप्न देखना है और उस स्वप्न के अर्थ खोजना है। इस पुस्तक में लेखिका ने ऐसे अनेक स्वप्नों के शब्द चित्र प्रस्तुत किए हैं। इसमें जिन बातों को रेखांकित किया गया है, वे हैं: बच्चों का संगीत से लगाव, अपने परिचित शब्दों से लगाव और अपनी कहानी और अपने वातावरण से लगाव। शिक्षा में दिलचस्पी रखने वाले हर व्यक्ति को यह पुस्तक नयी दृष्टि प्रदान करेगी।

❑❑❑